



# International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2017; 3(6): 36-38

© 2018 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 28-09-2017

Accepted: 03-10-2017

डॉ० अशोक कुमार दुबे

एसोशिएट प्रोफेसर—संस्कृत  
बी.एस.एन.वी.पी.जी. कॉलेज,  
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ,  
उत्तर प्रदेश, भारत।

## साहित्य धर्म

डॉ० अशोक कुमार दुबे

सारांश

संस्कृतभाषा के शब्दों का वैशिष्ट्य यह है कि प्रायः व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में अपनी परिभाषा भी व्यक्त करते हैं। यह तथ्य 'साहित्य' और 'धर्म' इन दोनों शब्दों में भी अन्वर्थक है। साहित्य हित सहित का भाव और सहित है— हित के साथ (हितेन यह सहितम्)। इसी प्रकार धर्म शब्द धृ धातु—से निपन्न है, जिसका अर्थ—धारण करना है—(धरति धियते व धर्मः)। स्वभाव, न्याय, आधार आदि इसके अनेक पर्याय हैं। किसी वस्तु की विधायक आन्तरिक वृत्ति को धर्म कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ का व्यवित्तत्व जिस वृत्ति पर निर्भर है, वही उस पदार्थ का धर्म है। धर्म की कमी से उस पदार्थ का क्षय होता है और धर्म की वृद्धि होती है। बेले के फूल का धर्म सुवास है, उसकी वृद्धि, उसकी कली का विकास है, उसकी कमी फूल का ह्रास है। धर्म की परिकल्पना भारत की अपनी विशेषता है। मानवीय व्यवहार आदि के संदर्भ में धर्म अत्यन्त व्यापक अर्थ में भारतीय मनीषियों द्वारा प्रयुक्त होता रहा है, जो वैदिक अनुष्ठान, कर्तव्य, धर्म, विधि, नियम, पूजापद्धति आदि के पर्याय के रूप में प्रसिद्ध है। धात्वर्थ की दृष्टि से इसका केन्द्रीय अर्थ है—जड़ तथा चेतन द्वारा धारित तत्त्व। साहित्य के साथ सामाजिक उत्तर पद के रूप में धर्म का अर्थ प्रस्तुत लेख में स्व—भाव मानकर विवेचन किया गया है।

मुख्य शब्द : साहित्य धर्म।

प्रस्तावना

भारतीय संदर्भ में साहित्यधर्म अर्थात् साहित्य का स्वभाव क्या है? यह तथ्य यहाँ विचारणीय है। साहित्य में अर्थ की दृष्टि से हित का साहचर्य तो अभिप्रेत है ही, भाषिक दृष्टि से साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों का उचित सन्निवेश, दोनों का एक—दूसरे न्यून न होने के साथ भिन्न न होना, भावभिव्यक्ति या सम्प्रेषण के लिए आवश्यक है, इस दृष्टि से आचार्य कुन्तक का कथन महत्वपूर्ण है—

'शब्दाथौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।  
सहितविति तावेव किमपूर्व विधीयते।।  
साहित्यमनयोः शोभाशलितां प्रति काप्यसौ।  
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति।।

धर्म या स्व—भाव की दृष्टि से व्युत्पत्ति—केन्द्रित साहित्य का स्वरूप इस प्रकार कहा जा सकता है—

'हितेन सहितं यत्स्यात्साहित्यमितीरितम्।  
हितेन रहितं यत् तद् भ्रमात् साहित्यमुच्यते।।

इस प्रकार शब्दार्थ के समुचित संयोजन द्वारा अभिव्यक्त वाङ्मय साहित्य है। चारु शब्दार्थसन्निवेश भले ही हो, किन्तु जो हितसाधक नहीं है, ऐसा वाङ्मय साहित्याभासा है। भ्रमवशात् उसे साहित्य कह दिया जाता है। जैसे कम प्रकाश में सर्पाकार रस्सी को भ्रम के कारण सर्प समझने से भयादि का अनुभव होता है। प्रायः भारतीय परिवेश में पले और बढ़े मानव में विधिविहित उदात्त मानवीय गुण स्वतः अनुस्यूत होकर संस्कार के रूप में स्थित हो जाते हैं। अतः वह सत्संस्कार और स्व—भाव (धर्म) से युक्त हो, ऐसी अपेक्षा की जाती है, यदि भारतीय उदात्त मानवीय मूल्यों से भिन्न किसी का आचरण है, तब वह मनुष्य होकर भी पशु होता है। इस संदर्भ में भर्तृहरि कहते हैं—

'आहरनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।  
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

Correspondence

डॉ० अशोक कुमार दुबे

एसोशिएट प्रोफेसर—संस्कृत  
बी.एस.एन.वी.पी.जी. कॉलेज,  
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ,  
उत्तर प्रदेश, भारत।

जिस प्रकार सर्वाभिलषित आचरण के अभाव में शारीरिक संरचनादि की दृष्टि से मनुष्य होकर भी मनुष्य नहीं पशु है, उसी प्रकार साहित्य यदि अपने मूलस्वभाव (सहित) से युक्त नहीं है, श्वह साहित्याभाव मात्र होगा। साहित्य की सहतप्रवृत्ति, स्वभाव या धर्म की हितप्रतिबद्धता अथवा सहभाव की स्थिति के निरूपण के लिए यहाँ स्व० मैथली शरण गुप्त के साकेत एक प्रसंग उद्धृत करना उचित समझता हूँ—सीता को जब पता चलता है कि राम का युवराज्यभिषेक होने वाला है, तब राम से कहती हैं— कहा वैदही ने “हे नाथ! अभी तक चारों भाई साथ, भोगते थे तुम सम सुख भोग, व्यवस्था मेट रही यह योग। भिन्न सा करके कोसलराज, राज्य देते हैं तुमको आज,

तुम्हें रूचता है यह अधिकार?” राज्य है प्रिये! भोग या भार। बड़े के लिए बड़ा ही दण्ड, प्रजा की थाती रहे अखण्ड, तदपि निश्चिन्त रहो तुम नित्य, यहाँ साहित्य नहीं साहित्य। रहेगा साधु भरत का मन्त्र, मनस्वी लक्षणम का बलतन्त्र, तुम्हारे लघु देवर का धाम, मात्र दायित्व हेतु हैं राम।”

भारतीय मनीषियों ने व्यवस्थित जीवन एवं सर्वविध सुख—शान्ति के लिये या यों कहें कि दैहिक, दैविक और भौतिक तापों के निवारण के लिये साहित्यसर्जन किया है। पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) का प्रेरणात्मक आकलन भारतीय साहित्य की अपनी विशेषता है। इन पुरुषार्थों का निरूपण साहित्य में अपौरुषेय वाङ्मय वेदाति की मान्यता तथा मनीषियों के अधीति, बोध, आचरण और प्रचार के आधार किया गया है। इनका सैद्धान्तिक स्वरूप शास्त्रों में तथा व्यावहारिक उदात्त रूप रामायण, महाभारत, महाकाव्य नाटक आदि में पात्रों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। इन ग्रन्थों में “आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् (अपने लिए जो आचरण प्रतिकूल लगता है, वैसा व्यवहार दूसरों के साथ न करें) की भावना सर्वत्र देखने को मिलती है। चाहे व शास्त्रग्रन्थ हो अथवा काव्यग्रन्थ दोनों में विहित कार्य करने से स्वकीय और परकीय हित होता है और अविहित कार्य करने से परसन्ताप और स्वयं की दुर्गति होती है। मानव के सन्त्रास का निवारण और उसके सुख की प्राप्ति ही सर्वविध सत्साहित्य का लक्ष्य है। यही उसका धर्म (स्व—भाव) है।

वस्तुतः मानवीय आचारादि की दृष्टि से सृष्ट साहित्य की प्रकृति भी वही है जो सामान्य मानवधर्म मनु आदि ने निरूपित किया है। भारतीय दर्शन—साहित्य का स्वभाव भी मानवीय सुख—शान्ति है। वैशेषिक दर्शन में कण्ठतः उपात्त धर्म की वैज्ञानिक परिभाषा इस प्रकार है—‘यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।’

‘श्रुति स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियात्मनः।  
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।

(श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपने आत्मा का सन्तोष यही धर्म के चार साक्षात् लक्षण कह गए हैं) यदि श्रुति और स्मृतिका पारिभाषिक अर्थ न होकर मात्र व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ, अर्थात् पारस्परिक श्रवण और संस्कार जन्यज्ञान (स्मरण) लिया जाय तो प्रकारान्तर से धर्म का यह लक्षण सभी धर्मों पर समान रूप से लागू होगा। वस्तुतः संसार का कोई भी धर्म मानवीय सुख—शान्ति की दृष्टि से प्रवर्तित है, यदि किसी धर्म में इसके विपरीत प्रतीति होती है तब वह भी साहित्याभास की तरह धर्माभास मात्र है। धर्म से धर्म में इसके विपरीत प्रतीति होती है तब वह भी साहित्याभास की तरह धर्माभास मात्र है। धर्म से धर्म का कहीं कभी कोई टकराव नहीं है। धर्म को यदि कहीं अशान्ति का कारण माना जाता है, वहाँ धर्म नहीं, धर्म की आड़ में तत्समय मानव या मानव—समुदाय की स्वार्थपरता कुप्रवृत्ति या भौतिक लिप्सा कारण है। मनु ने दस उदात्त मानवीय गुणों का उल्लेख करते हुए आचार की दृष्टि से भी धर्म की स्थिति का निरूपण किया है—

‘धृति क्षमा दमोऽस्तयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।  
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

रचनात्मक साहित्य की दृष्टि से यदि भारतीय काव्यशास्त्र या काव्यानुशासन पर दृष्टिपात करें तब यही उदात्त गुण किसी प्रबन्धरचना के नायक के लिए अनिवार्य माने गये हैं। महर्षि वाल्मीकि अर्थात् भारत के आदिकवि ने त्रिलोकज्ञ नारद से अपने अभिलक्षित नायक का नाम पूछा। यहाँ ध्यातव्य है कि वाल्मीकि ने नारद के समक्ष पहले कुछ शर्तें रखीं कि ऐसे व्यक्ति का नाम बताएँ, जिसमें अधोलिखित गुण हों—

‘कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान कश्च वीर्यवान्।  
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यावाक्यो दृढव्रतः।।  
चारित्र्येण चको युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।  
विद्वान कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः।।  
आत्मवान् को जितक्रोधी द्युतिमान् कोऽनसूयकः।  
कस्य विभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे।।

काव्यशास्त्रियों द्वारा जो नायक परिभाषाएँ दी गई हैं, वे वाल्मीकि की इस अवधारणा से उत्कृष्ट नहीं है। साहित्य (या काव्य) के अध्ययन में ‘रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्’ ऐसा निर्देश दिया गया है। सत्साहित्य में विकृतियों या असद्वृत्ति का निरूपण करके उसके दुष्परिणाम से पाठक को अवगत कराकर सत्प्रवृत्ति की प्रेरणा दी जाती है।

उक्त पङ्क्तियों में भारत आदि काव्य की ओर संकेत किया गया है जो भारतीय रचनात्मक साहित्य का मूल स्रोत है, जिसकी निरर्गल धारा भारतीय कवियों और लेखकों की रचनाओं में आज भी प्रवाहित है। यदि भारत के ही नहीं, विश्व के प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ ऋग्वेद का आद्यन्त अवलोकन किया जाय तब उसमें भी हम स—हित का भाव ही प्राप्त करेंगे। प्रथम मंत्र ‘अग्नि मीले पुराहितम्’ में ऊर्जा के प्रति सम्मान संरक्षण और पूज्य भाव प्राप्त होता है तो अन्तिम सूक्ति में पुनः उसी अग्नि (ऊर्जा) के प्रति सम्मानभाव और स्वहित की कामना करते हुए मानवमात्र के प्रति सहभाव और सौहार्द की अभीप्सा व्यक्त की गई है—

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।  
इत्नस्पदे समिध्यसे स नो वसून्वा भर  
सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।  
देवा भागं यथा पूर्वं सं जानाना उपासते  
समानो मन्त्रः समिति समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।  
समानं मन्त्रमभि मन्त्रय वः समानेन वो हविषा जुहोमि  
समानी व आकूति समाना हृदयानि वः  
समानमस्तु वो मनो यथाः वः सुसहासति।

(हे समस्त सुखों की वर्षा करने वाले अग्नि! तू सबका स्वामी होकर समस्त तत्वों को मिलता है, तू भूमि की यज्ञवेदी पर प्रकाशित होता है। वह तू हमें नाना ऐश्वर्यों को प्राप्त करा।

हे स्तोताओं! तुम परस्पर एक विचार से मिलकर रहो, परस्पर मिलकर प्रेम से वार्तालाप करो। तु लोगों का मन परस्पर समान होकर ज्ञान प्राप्त करे। जिस प्रकार पूर्व के लोग एक मत होकर ज्ञान सम्पादन करते हुए सेवनीय ईश्वर की उत्तम प्रकार से उपासना करते हैं, उसी प्रकार तुम भी एक मत होकर अपना कार्य करो।

हम सबकी प्रार्थना एक समान हो, परस्पर मिलन भी भेद—भाव से रहित हो (एक सा हो) विचार के आदान—प्रदान का स्थान एक ही हो। अपना मन, मनन करने का साधन अन्तःकरण और चित्त विचार जन्यज्ञान एकविध हों। मैं तुम्हें समान मंत्र (समानता का रहस्यमय मंत्र) बताता हूँ। तुम्हें एक समान हवि प्रदान करके सुसंस्कृत करता हूँ।

तुम्हारा संकल्प समानहो और तुम्हारे हृदय भी एकविध (समान) हों, तुम्हारे मन एक समान हों, जिससे तुम्हारा कार्य पूर्णरूप से संगठित हो (सुसहासति)।

ऋग्वेद का यह अन्तिम सूक्त भारतीय सत्साहित्य में समरस है। भारतीय नाटकों के उद्देश्य जो सारांशतः भरतवाक्यों में अभिव्यक्त हैं, वे निश्चित ही ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त ही स्मरण कराते हैं। यहाँ ध्यातव्य है यह ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त समग्ररूप में उद्धृत करने की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हुई कि कभी वेद के प्रति आस्थावान् भारतीय उसके निर्देशों के विपरीत आचरण को पा समझते थे। यहाँ कल्पना की जा सकती है कि विश्व के समस्त मानव द्वारा सत्साहित्य की इन पंक्तियों की प्रति आस्थावान् होकर यदि आचरण करने का मन वाणी तथा कर्म की एकता के साथ प्रयास करें, तो विश्व का परिदृश्य कितना सुन्दर और सुखशान्ति-पूर्ण होगा।

रामायण और ऋग्वेद के पूर्वोक्त संदर्भ से साहित्य-धर्म का मर्म सहत रूप से समझा जा सकता है। भारतीय वाङ्मय या साहित्य में सहित का भाव त्रिविध उपदेश शैलियों में व्यक्त है—प्रभुसम्मित, सुहृत्सम्मित और कान्तासम्मित ये तीन शैलियाँ हैं। इसमें शब्दप्रधान प्रभुसम्मित शैली वेदों में हैं—जैसे बिना किसी प्रकार के तर्क के नौकर को स्वामी का आदेश मानना पड़ता है। अर्थात् वेदविहित कर्तव्यों का पालन स्वहित और परहित चाहने वाले के लिए अनिवार्य है। अर्थप्रधान सुहृत्सम्मित शैली पुराणों की है जैसे कोई मित्र किसी मित्र से कुछ करने को कहता है, तब वह बाध्य तो नहीं होता किन्तु करने की सत्प्रेरणा अवश्य प्राप्त करता है। यह शैली पौराणिक साहित्य की है। पुराणों में असत् वृत्ति के कुपरिणाम और सद्भाव पाठक के भीतर जागरित होता है। कहा भी गया है—“इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थं समुपबृंहयेत्” इतिहास की परिभाषा है—

‘धर्मार्थकाममोक्षानामुपदेशसमविन्तम् । पूर्ववृत्तकथायुक्ततितिहासं प्रचक्षते ॥’

अष्टादश पुराणों में व्यास के वचन की प्रवृत्ति की अभिस्वीकृति इस प्रकार है—

‘अष्टादश पुराणेण व्यासस्य वचनद्वयम् । परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥’

रसप्रधान या सहृदयहृदयाहृदक कान्तासम्मित शैली काव्यों की है। जैसे प्रियतमा अपने कान्त से अपने आवर्जक सौन्दर्यमय हावभाव और मधुरवाणी द्वारा अपने आदेश का पालन करवा लेती है, वैसे ही दृश्य और श्रव्य रसात्मक काव्यों में उदात्त सन्देश अनुस्यूत होते हैं, जो पाठक में संवेदनशीलता और सहभाव उत्पन्न करते हैं।

### संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. Commentary of ShriVallabhacharya on The Rasa Panchadhyayi. by Shri Vallabhacharya, 2012.
2. Sri Subodhini- Commentry On Srimad Bhagvata Purana By Mahaprabhu ShriVallabhacharya
3. Sahitya Sidhant Evam Smalochna - Reference Book With Expert Panel of Neeraj Publication